International Journal of Multidisciplinary Innovations & Studies (IJMIS)

# हिंदी सिनेमा और हिंदी साहित्य का अन्तर्सम्बन्ध

**डॉ. अनीता रानी**

**एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग।**

**सनातन धर्म महिला महाविद्यालय नरवाना (जींद)**

**dr.anita.chhabra@gmail.com**

**सार**

प्रस्तुत शोध-पत्र हिंदी साहित्य और हिंदी सिनेमा के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और कलात्मक अंतर्संबंधों का गहन अनुशीलन करता है। साहित्य और सिनेमा दोनों ही समाज के यथार्थ को प्रतिबिंबित करने वाले दो सशक्त माध्यम हैं; जहाँ साहित्य शब्द और कल्पना के माध्यम से मनुष्य के अंतर्जगत को उद्घाटित करता है, वहीं सिनेमा दृश्य, ध्वनि और तकनीक के सामंजस्य से उसे सेल्यूलाइड पर जीवंत बनाता है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य यह विश्लेषित करना है कि किस प्रकार भारतीय सिनेमा के उद्भव (1913) से लेकर 21वीं सदी के डिजिटल युग तक हिंदी साहित्य ने सिनेमा को वैचारिक और कथात्मक सुदृढ़ता प्रदान की है। शोध-पत्र में मुंशी प्रेमचंद, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, फणीश्वरनाथ रेणु, और धर्मवीर भारती जैसे मूर्धन्य रचनाकारों की कृतियों के फिल्मी रूपांतरणों जैसे—'सेवासदन', 'देवदास', 'तीसरी कसम', और 'सूरज का सातवां घोड़ा' का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया है। इसके साथ ही, समांतर सिनेमा आंदोलन में साहित्य की भूमिका, पटकथा लेखन की चुनौतियाँ, और दोनों विधाओं के बीच वाणिज्यिक व कलात्मक द्वंद्व पर प्रकाश डाला गया है। निष्कर्षतः यह शोध प्रमाणित करता है कि तकनीकी बदलावों के बावजूद, सिनेमा की आत्मा को जीवित रखने के लिए साहित्यिक गहराई आज भी अपरिहार्य है।

**मुख्य शब्द**

हिंदी सिनेमा, हिंदी साहित्य, अंतर्संबंध, रूपांतरण, समानांतर सिनेमा, यथार्थवाद, पटकथा लेखन, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, जनसंचार, दृश्य-श्रव्य माध्यम।

International Journal of Multidisciplinary Innovations & Studies (IJMIS)

## 1. प्रस्तावना

साहित्य और सिनेमा मूलतः मानवीय संवेदनाओं, सामाजिक द्वंद्वों और सांस्कृतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति के दो भिन्न परंतु परस्पर पूरक माध्यम हैं। जहाँ साहित्य को "समाज का दर्पण" कहा गया है, वहीं सिनेमा को समकालीन समाज का सबसे जीवंत "प्रतिबिंब" माना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है,"[1] तो सिनेमा उसी चित्तवृत्ति का गतिशील और दृश्यमान वितान है। हिंदी सिनेमा के सौ से अधिक वर्षों के इतिहास का यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अपनी शैशवावस्था से लेकर आज के वैश्विक बहुराष्ट्रीय निगमों के दौर तक, सिनेमा ने अपनी वैचारिक ऊर्जा और कथात्मक आधार के लिए निरंतर हिंदी साहित्य की ओर रुख किया है।

साहित्य मूलतः अमूर्त और शब्द-प्रधान विधा है। पाठक लेखक के शब्दों के माध्यम से अपनी कल्पना के संसार में दृश्यों का सृजन करता है। इसके विपरीत, सिनेमा एक दृश्य-श्रव्य और मूलतः मूर्त विधा है, जहाँ निर्देशक, अभिनेता, कैमरामैन और संपादक मिलकर लेखक की कल्पना को एक निश्चित भौतिक आकार देते हैं। यह रूपांतरण केवल एक माध्यम से दूसरे माध्यम में संक्रमण नहीं है, बल्कि यह एक नई कलात्मक भाषा का जन्म है। हिंदी सिनेमा के आरंभिक काल में दादासाहेब फालके द्वारा निर्मित 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) का मूलाधार हमारे पौराणिक और मौखिक साहित्य में ही निहित था। आगे चलकर जब 1931 में आर्देशिर ईरानी ने भारत की पहली सवाक (बोलती) फिल्म 'आलमआरा' बनाई, तो सिनेमा को शब्दों, गीतों और संवादों की आवश्यकता पड़ी, जिसने साहित्यकारों के लिए सिनेमा के द्वार खोल दिए।

प्रस्तुत शोध का औचित्य इस बात में निहित है कि वर्तमान समय में जहाँ सिनेमा व्यावसायिकता और तकनीकी चकाचौंध के वशीभूत होकर अपनी कथात्मक गहराई खो रहा है, वहीं साहित्य और सिनेमा के ऐतिहासिक अंतःसंबंधों को पुनः टटोलना आवश्यक है। यह शोध केवल यह नहीं देखता कि कितनी फिल्मों

[1] शुक्ल, रामचंद्र. *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नागरी प्रचारिणी सभा, 1929, पृष्ठ 1।

की कहानियाँ उपन्यासों से ली गईं, बल्कि यह दोनों माध्यमों के वैचारिक आदान-प्रदान, भाषा के स्तर पर हुए बदलावों और सामाजिक चेतना के निर्माण में दोनों की संयुक्त भूमिका का एक समग्र और व्यवस्थित ढांचा प्रस्तुत करता है।

## 2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि: आरंभिक सिनेमा और साहित्यिक जुड़ाव

भारतीय सिनेमा का इतिहास और उसका साहित्य के साथ संबंध परस्पर विकास की यात्रा है। 20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में जब भारत औपनिवेशिक दासता से जूझ रहा था, तब हिंदी साहित्य में 'भारतेंदु युग' और 'द्विवेदी युग' के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना और नवजागरण का स्वर मुखरित हो रहा था। इसी दौर में सिनेमा नामक एक अभूतपूर्व वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कार का भारत में प्रवेश हुआ। सिनेमा ने लोक-रुचि को आकर्षित करने के लिए सबसे पहले स्थापित धार्मिक, पौराणिक और साहित्यिक आख्यानों को अपना आधार बनाया।

1930 और 1940 का दशक भारतीय सिनेमा का 'थियेटर युग' या 'साहित्यिक विमर्श का स्वर्ण काल' कहा जा सकता है। इस काल में न्यू थिएटर्स (कलकत्ता), बॉम्बे टॉकीज (बंबई) और प्रभात फिल्म कंपनी (पुणे) जैसे बड़े स्टूडियो स्थापित हुए, जिन्होंने बाकायदा लेखकों और कवियों को अपने यहाँ सवैतनिक नियुक्त किया। देवकी बोस, प्रमथेश चंद्र बरुआ और बिमल राय जैसे निर्देशकों ने बंगाली और हिंदी साहित्य की कालजयी कृतियों को सिनेमाई भाषा में ढालना शुरू किया।

इस दौर का सबसे महत्वपूर्ण मील का पत्थर शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'देवदास' का फिल्मी रूपांतरण था। प्रमथेश बरुआ द्वारा 1935 में बनाई गई 'देवदास' (कुंदन लाल सहगल अभिनीत) ने भारतीय जनमानस पर ऐसा प्रभाव छोड़ा कि 'देवदास' केवल एक चरित्र नहीं, बल्कि भारतीय समाज में कुंठित, असफल और भावुक प्रेमी का एक 'आर्केटाइप' (मूलरूप) बन गया।[2] इस प्रकार, प्रारंभिक सिनेमा ने साहित्य के माध्यम से समाज में अपनी सांस्कृतिक वैधता और स्वीकार्यता

[2] बंद्योपाध्याय, सोमन. *भारतीय सिनेमा और शरतचंद्र का साहित्य*. अनामिका पब्लिशर्स, 2015, पृष्ठ 45।

प्राप्त की, जो शुरुआती दौर में इसे "अभिजात वर्ग" द्वारा महज़ एक सस्ती नौटंकी समझे जाने के विरोध में अत्यंत आवश्यक थी।

### 3. मुंशी प्रेमचंद और हिंदी सिनेमा: एक वैचारिक द्वंद्व

हिंदी साहित्य के 'उपन्यास सम्राट' मुंशी प्रेमचंद और सिनेमा का अंतर्संबंध अत्यंत जटिल, ऐतिहासिक और वैचारिक रूप से अंतर्विरोधों से भरा रहा है। प्रेमचंद हिंदी के पहले ऐसे शीर्षस्थ लेखक थे, जिन्होंने सिनेमा की जनसंवेदात्मक शक्ति को पहचाना और बंबई (अब मुंबई) की ओर रुख किया। वे 1934 में अजंता सिनेटोन कंपनी के निमंत्रण पर पटकथा लेखक के रूप में बंबई आए। प्रेमचंद का मानना था कि सिनेमा के माध्यम से वे अपनी सामाजिक सुधार की बात को करोड़ों निरक्षर लोगों तक पहुँचा सकते हैं, जो उनकी पुस्तकें नहीं पढ़ सकते थे।

अजंता सिनेटोन के लिए प्रेमचंद ने 'मजदूर' (1934) फिल्म की कहानी और पटकथा लिखी, जिसमें उन्होंने स्वयं एक मजदूर नेता की लघु भूमिका भी निभाई थी। इस फिल्म में पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच के वर्ग-संघर्ष को दिखाया गया था। फिल्म की वैचारिक मारक क्षमता इतनी अधिक थी कि मिल मालिकों के दबाव में ब्रिटिश सरकार ने लाहौर, बंबई और दिल्ली जैसे औद्योगिक शहरों में इस फिल्म के प्रदर्शन पर प्रतिबंध लगा दिया।[3]

परंतु, बंबईया सिनेमा का व्यावसायिक ढांचा और निर्देशकों का कलात्मक सतहीपन प्रेमचंद के आदर्शवाद और साहित्यिक गरिमा के अनुकूल नहीं था। निर्देशकों द्वारा कहानी में अवांछित बदलाव करने, उसमें जबरन चकाचौंध और यथार्थ से परे दृश्य जोड़ने से प्रेमचंद अत्यंत खिन्न हुए। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था:

"सिनेमा निर्माता व्यावसायिक लाभ के लिए कला की हत्या करने में संकोच नहीं करते। यहाँ लेखक की कलम स्वतंत्र नहीं है, वह पूंजीपतियों के इशारों पर नाचने के लिए विवश है।"[4]

मात्र 1 वर्ष के भीतर ही प्रेमचंद का सिनेमा से मोहभंग हो गया और वे वापस बनारस लौट आए। उनके इस

[3] राय, अमृत. *कलम का सिपाही: प्रेमचंद की जीवनी*. हंस प्रकाशन, 1962, पृष्ठ 382

[4] प्रेमचंद. *विविध प्रसंग (भाग 3: पत्र और संस्मरण)*. संपादन अमृत राय, हंस प्रकाशन, 1975, पृष्ठ 142।

कड़वे अनुभव के बावजूद, उनके मरणोपरांत उनके उपन्यासों पर बनी फिल्में भारतीय सिनेमा का गौरव बनीं। नितिन बोस के निर्देशन में बनी 'सेवासदन' (1934), और आगे चलकर सत्यजीत रे द्वारा प्रेमचंद की कहानियों पर बनाई गई 'शतरंज के खिलाड़ी' (1977) तथा 'सद्गति' (1981) ने यह सिद्ध किया कि यदि संवेदनशील निर्देशक मिले, तो प्रेमचंद का साहित्य पर्दे पर अद्वितीय यथार्थ की रचना कर सकता है।

**4. प्रगतिशील आंदोलन, उर्दू-हिंदी शायरी और सिनेमा का स्वर्ण युग (1950-1960)**

सच्चे अर्थों में हिंदी साहित्य और सिनेमा का सबसे प्रगाढ़ और रचनात्मक अद्वैत 1950 और 1960 के दशकों में देखने को मिलता है, जिसे भारतीय सिनेमा का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। इस दौर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि देश के विभाजन और स्वतंत्रता के तुरंत बाद, 'प्रगतिशील लेखक संघ' से जुड़े देश के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार, कवि और गीतकार सिनेमा जगत के मुख्यधारा का हिस्सा बने।

ख्वाजा अहमद अब्बास, कृष्ण चंदर, राजेंद्र सिंह बेदी, इसमत चुगताई, और पंडित मुखराम शर्मा जैसे कथाकारों ने फिल्मों की पटकथाएँ और संवाद लिखे। दूसरी ओर, साहिर लुध्यानवी, मजरूह सुल्तानपुरी, शैलेंद्र, कैफ़ी आज़मी, और शकील बदायुनी जैसे महान कवियों ने सिनेमाई गीतों के स्तर को साहित्यिक ऊंचाइयों तक पहुँचाया।

| **फिल्म (वर्ष)** | **निर्देशक** | **साहित्यिक स्रोत / लेखक** | **मुख्य वैचारिक योगदान** |
|---|---|---|---|
| **दो बीघा ज़मीन** (1953) | बिमल राय | सलिल चौधरी (कहानी) / ऋत्विक घटक | कृषक जीवन का यथार्थ, कर्ज और विस्थापन की त्रासदी |
| **प्यासा** (1957) | गुरु दत्त | साहिर लुध्यानवी (कविताएँ) | पूंजीवादी समाज में कलाकार की उपेक्षा और संवेदनशीलता का ह्रास |

| | | | |
|---|---|---|---|
| **कागज़ के फूल** (1959) | गुरु दत्त | कलात्मक अंतर्द्वंद्व | सिनेमा उद्योग के भीतर का खोखलापन और अकेलापन |

बिमल राय की 'दो बीघा ज़मीन' सीधे तौर पर रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता 'दुई बीघा जोमि' और तत्कालीन प्रगतिशील चेतना से प्रेरित थी। इस फिल्म ने भारतीय सिनेमा को पहली बार अंतरराष्ट्रीय मंचों (कान्स फिल्म समारोह) पर पहचान दिलाई। गुरु दत्त की 'प्यासा' एक ऐसे कवि की कहानी है जिसका काव्य समाज में तब तक स्वीकृत नहीं होता जब तक उसे मृत नहीं मान लिया जाता। इस फिल्म में साहिर लुध्यानवी के गीत जैसे "जिन्हें नाज़ है हिंद पर वो कहाँ हैं" केवल फिल्मी गीत नहीं थे, बल्कि वे नेहरूवादी राष्ट्र निर्माण के दौर के मोहभंग को रेखांकित करने वाले तीखे राजनैतिक और साहित्यिक वक्तव्य थे।[5] इस युग में साहित्य और सिनेमा के बीच की सीमा रेखाएं लगभग मिट गई थीं।

## 5. समांतर सिनेमा और आंचलिकता का स्वर

1960 के दशक के अंत और 1970 के दशक में जब मुख्यधारा का हिंदी सिनेमा फॉर्मूला फिल्मों, मारधाड़ और सरोकार-विहीन मनोरंजन की ओर बढ़ रहा था, तब उसके समानांतर एक नया आंदोलन शुरू हुआ जिसे 'समानांतर सिनेमा' या 'न्यू वेव सिनेमा' कहा जाता है। इस आंदोलन की रीढ़ पूरी तरह से हिंदी की 'नई कहानी' आंदोलन और आंचलिक साहित्य पर टिकी थी।

इस धारा के प्रमुख फिल्मकारों जैसे मणि कौल, श्याम बेनेगल, बासु चटर्जी, कुमार शाहनी और गोविंद निहलानी ने साहित्यिक कृतियों को बिना किसी व्यावसायिक समझौते के पर्दे पर उतारा।

### 5.1 फणीश्वरनाथ रेणु और 'तीसरी कसम'

बासु भट्टाचार्य के निर्देशन और प्रसिद्ध गीतकार शैलेंद्र के निर्माण में बनी फिल्म 'तीसरी कसम' (1966)

[5] कबीर, नसरीन मुन्नी। गुरु दत्त: सिनेमा में एक जीवन। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005, पृष्ठ 89।

फणीश्वरनाथ रेणु की कालजयी कहानी 'मारे गए गुलफाम' पर आधारित थी। यह फिल्म साहित्यिक रूपांतरण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। फिल्म ग्रामीण बिहार के लोक-जीवन, बैलगाड़ी चालक हीरामन (राज कपूर) और नौटंकी की नृत्यांगना हीराबाई (वहीदा रहमान) के बीच के निश्छल, अनकहे और पवित्र प्रेम को हुबहू पर्दे पर उतारती है। रेणु के साहित्य की जो आंचलिक सुगंध, जो लोक-गीत (जैसे 'सजनवा बैरी हो गए हमार') और जो सांस्कृतिक तरलता थी, उसे कैमरे ने बड़ी संवेदनशीलता से पकड़ा।[6] हालांकि यह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर असफल रही, लेकिन इसने कलात्मक सिनेमा के प्रतिमान बदल दिए।

### 5.2 मोहन राकेश, धर्मवीर भारती और विजयदान देथा

मणि कौल ने मोहन राकेश के प्रसिद्ध नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' (1971) पर इसी नाम से एक अत्यंत प्रयोगात्मक फिल्म बनाई। श्याम बेनेगल ने धर्मवीर भारती के जटिल और बहुस्तरीय उपन्यास 'सूरज का सातवां घोड़ा' (1992) पर फिल्म बनाकर यह दिखाया कि कैसे एक ही घटना को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, जो साहित्य की 'अति-औपन्यासिकता' को सिनेमा में लागू करने का अनूठा प्रयास था।[7] इसी प्रकार, मणि कौल की 'दुविधा' (1973) और अमोल पालेकर की 'पहेली' (2005) राजस्थान के महान कथाकार विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' पर आधारित थीं, जो लोक-कथाओं के माध्यम से स्त्री-अस्मिता और उसकी स्वतंत्रता के प्रश्नों को रेखांकित करती हैं।

## 6. माध्यम परिवर्तन की चुनौतियाँ: पाठ से दृश्य तक की यात्रा

साहित्यिक कृति का सिनेमा में रूपांतरण कोई सरल या यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है। यह एक जटिल विधागत अनुवाद है, जिसमें एक माध्यम के तत्वों को दूसरे माध्यम के व्याकरण के अनुसार पुनर्गठित करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में फिल्मकार के सामने कई संरचनात्मक, कलात्मक और वैचारिक चुनौतियाँ आती हैं।

[6] रेणु, फणीश्वरनाथ. *तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम*. राजकमल प्रकाशन, 1956 (फिल्म रूपांतरण संदर्भ, 1966, निर्देशक बासु भट्टाचार्य)।

[7] भारती, धर्मवीर. *सूरज का सातवां घोड़ा*. भारतीय ज्ञानपीठ, 1952 (फिल्म रूपांतरण संदर्भ, 1992, निर्देशक श्याम बेनेगल)।

### 6.1 विधागत भिन्नता और संक्षेपण की चुनौती

एक उपन्यास 300-400 पृष्ठों का हो सकता है, जिसमें लेखक के पास चरित्रों के आंतरिक एकालाप उनके अतीत की स्मृतियों और दार्शनिक विचारों को विस्तार से लिखने की पूरी छूट होती है। परंतु, सिनेमा के पास केवल 2 से 2.5 घंटे का सीमित समय होता है। एक मानक पटकथा का 1 पृष्ठ पर्दे पर लगभग 1 मिनट के दृश्य के बराबर होता है।[8] अतः, पटकथा लेखक को मूल कृति की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए कई उप-कथानकों और चरित्रों को छोड़ना या आपस में मिलाना पड़ता है।

### 6.2 दृश्य बनाम शब्द

साहित्य में जो काम 'शब्द' करते हैं, सिनेमा में वही काम 'फ्रेम', 'कैमरा एंगल', 'लाइटिंग' और 'बैकग्राउंड स्कोर' (पार्श्व संगीत) करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि उपन्यास में लिखा है कि "राधा का हृदय गहरी उदासी और अकेलेपन से भर गया," तो फिल्मकार इसे शब्दों में कहलवाने के बजाय राधा को एक बड़ी, खाली और अंधेरी खिड़की के पास अकेले बैठे दिखाकर, बैकग्राउंड में एक उदास धुन बजाकर अभिव्यक्त करेगा। यदि निर्देशक इस तकनीकी भाषा को नहीं समझता, तो फिल्म केवल 'फिल्माया हुआ नाटक' बनकर रह जाती है, सिनेमा नहीं बन पाती।

### 6.3 पाठकीय स्वतंत्रता बनाम निर्देशक की दृष्टि

रूपांतरण के संदर्भ में कला-जगत में दो मुख्य दृष्टिकोण पाए जाते हैं:

1. **सत्यजीत रे का दृष्टिकोण:** रे का मानना था कि एक बार जब कोई फिल्मकार किसी साहित्यिक कृति को चुनता है, तो वह कृति फिल्मकार की संपत्ति बन जाती है। फिल्मकार मूल रचना में अपनी दृष्टि के अनुसार बदलाव करने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र है, क्योंकि फिल्म उसकी अपनी मौलिक कलात्मक अभिव्यक्ति है।[9]
2. **बासु चटर्जी का दृष्टिकोण:** इसके विपरीत, बासु चटर्जी और बिमल राय जैसे निर्देशकों का मानना था कि साहित्यिक कृति पर फिल्म

[8] फील्ड, सिड. *स्क्रीनप्ले: द फाउंडेशन्स ऑफ स्क्रीनराइटिंग*. डेल्टा बुक्स, 2005, पृष्ठ 23।

[9] रे, सत्यजीत. *आवर फिल्म्स, देयर फिल्म्स*. ओरिएंट लांगमैन, 1976, पृष्ठ 57।

बनाते समय उसकी मूल आत्मा, उसके केंद्रीय संदेश और लेखक के वैचारिक सरोकारों के प्रति वफादार रहना फिल्मकार का नैतिक दायित्व है।

**7. समकालीन परिदृश्य और डिजिटल युग: वेब सीरीज़ और नया विमर्श**

21वीं सदी के आगमन और विशेष रूप से 2010 के बाद मल्टीप्लेक्स संस्कृति तथा ओ.टी.टी. प्लेटफॉर्म्स (जैसे नेटफ्लिक्स, अमेज़न प्राइम, हॉटस्टार) के उदय ने साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंधों को एक नया आयाम और जीवन प्रदान किया है। 2.5 घंटे की फिल्म की विधागत सीमाओं के कारण जो उपन्यास पहले अछूते रह जाते थे, अब वे 8-10 कड़ियों की 'वेब सीरीज़' के रूप में पूरी गहराई और विस्तार के साथ रूपांतरित हो रहे हैं।

विक्रम चंद्रा के वृहद उपन्यास पर बनी वेब सीरीज़ 'सेक्रेड गेम्स' (2018) ने यह दिखा दिया कि भारतीय उपन्यासों में वैश्विक स्तर की दृश्य-सामग्री और कथ्य मौजूद है। इसी प्रकार, समकालीन हिंदी लेखन भी अब बड़े पैमाने पर परदे की ओर आकर्षित हो रहा है। समकालीन लोकप्रिय लेखकों जैसे चेतन भगत के उपन्यासों पर बनी फिल्में—'3 इडियट्स' (उपन्यास: फाइव पॉइंट समवन), '2 स्टेट्स', और 'काइ पो चे' (उपन्यास: मेरी ज़िंदगी की 3 गलतियाँ)—व्यावसायिक रूप से अत्यंत सफल रहीं। हालांकि, गंभीर साहित्यिक हलकों में इन कृतियों की साहित्यिक गुणवत्ता पर बहस जारी है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि इन्होंने सिनेमा और पठन-पाठन के बीच की दूरी को कम किया है।

इसके अतिरिक्त, विशाल भारद्वाज जैसे आधुनिक निर्देशकों ने पश्चिमी साहित्य को भारतीय परिवेश में ढालने का अनूठा प्रयोग किया है। शेक्सपियर के नाटकों का भारतीयकरण करते हुए उन्होंने 'मकबूल' (मैकबेथ - मुंबई अंडरवर्ल्ड), 'ओमकारा' (ओथेलो - उत्तर प्रदेश की राजनीति), और 'हैदर' (हेमलेट - कश्मीर संकट) जैसी उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण किया, जो यह साबित करती हैं कि साहित्य की सार्वभौमिकता को सिनेमाई

स्थानीयता के माध्यम से कैसे पुनर्जीवित किया जा सकता है।[10]

## 8. निष्कर्ष

हिंदी सिनेमा और हिंदी साहित्य का अंतर्संबंध सौ से अधिक वर्षों की सह-यात्रा, वैचारिक आदान-प्रदान, संघर्ष और समन्वय का इतिहास है। साहित्य ने जहाँ सिनेमा को कच्चा माल, कथ्यात्मक सुदृढ़ता, दार्शनिक गहराई और सामाजिक सरोकार प्रदान किए, वहीं सिनेमा ने साहित्य को जन-जन तक पहुँचाया, उसे दृश्यमान बनाया और अमर चरित्रों को भौतिक रूप दिया। यह सच है कि दोनों माध्यमों के बीच व्यावसायिक लाभ और कलात्मक शुद्धता को लेकर हमेशा एक अंतर्द्वंद्व रहा है। मुख्यधारा के सिनेमा ने कई बार लोक-रुचि के नाम पर साहित्य का सरलीकरण किया और उसकी वैचारिक मारक क्षमता को कमजोर किया। इसके बावजूद, जब-जब हिंदी सिनेमा अपनी पहचान के संकट से गुजरा है या कथ्य के स्तर पर दिवालियेपन का शिकार हुआ है, उसे अंततः साहित्य की शरण में ही जाना पड़ा है। आज के डिजिटल और ओ.टी.टी. के युग में यह संबंध और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। तकनीकी माध्यम बदल सकते हैं—सेल्युलाइड से डिजिटल रील और रील से क्लाउड स्ट्रीमिंग तक की यात्रा हो सकती है—परंतु मानवीय संवेदनाओं की जो समझ साहित्य के पास है, वह हमेशा सिनेमा की आत्मा बनी रहेगी। अतः, एक स्वस्थ, वैचारिक और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध समाज के निर्माण के लिए साहित्यिक सिनेमा और सिनेमाई साहित्य के इस अंतर्संबंध को निरंतर जीवित और गतिशील बनाए रखना अनिवार्य है।

## पाद-टिप्पणियाँ

[1] शुक्ल, रामचंद्र. *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नागरी प्रचारिणी सभा, 1929, पृष्ठ 1।

[2] बंद्योपाध्याय, सोमन. *भारतीय सिनेमा और शरतचंद्र का साहित्य*. अनामिका पब्लिशर्स, 2015, पृष्ठ 45।

[3] राय, अमृत. *कलम का सिपाही: प्रेमचंद की जीवनी*. हंस प्रकाशन, 1962, पृष्ठ 382।

[10] भारद्वाज, विशाल. *शेक्सपियर इन बॉलीवुड: त्रयी की पटकथा*. राजकमल प्रकाशन, 2016, पृष्ठ 12।

[4] प्रेमचंद. *विविध प्रसंग (भाग 3: पत्र और संस्मरण)*. संपादन अमृत राय, हंस प्रकाशन, 1975, पृष्ठ 142।

[5] कबीर, नसरीन मुन्नी। गुरु दत्त: सिनेमा में एक जीवन। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005, पृष्ठ 89।

[6] रेणु, फणीश्वरनाथ. *तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम*. राजकमल प्रकाशन, 1956 (फिल्म रूपांतरण संदर्भ, 1966, निर्देशक बासु भट्टाचार्य)।

[7] भारती, धर्मवीर. *सूरज का सातवां घोड़ा*. भारतीय ज्ञानपीठ, 1952 (फिल्म रूपांतरण संदर्भ, 1992, निर्देशक श्याम बेनेगल)।

[8] फील्ड, सिड. *स्क्रीनप्ले: द फाउंडेशन्स ऑफ स्क्रीनराइटिंग*. डेल्टा बुक्स, 2005, पृष्ठ 23।

[9] रे, सत्यजीत. *आवर फिल्म्स, देयर फिल्म्स*. ओरिएंट लांगमैन, 1976, पृष्ठ 57।

[10] भारद्वाज, विशाल. *शेक्सपियर इन बॉलीवुड: त्रयी की पटकथा*. राजकमल प्रकाशन, 2016, पृष्ठ 12।

**संदर्भ ग्रंथ सूची**

कबीर, नसरीन मुन्नी. *गुरु दत्त: ए लाइफ इन सिनेमा*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005।

भारद्वाज, विशाल. *शेक्सपियर इन बॉलीवुड: त्रयी की पटकथा (मकबूल, ओमकारा, हैदर)*. राजकमल प्रकाशन, 2016।

भारती, धर्मवीर. *सूरज का सातवां घोड़ा*. भारतीय ज्ञानपीठ, 1952।

बंद्योपाध्याय, सोमन. *भारतीय सिनेमा और शरतचंद्र का साहित्य*. अनामिका पब्लिशर्स, 2015।

फील्ड, सिड. स्क्रीनप्ले: द फाउंडेशन्स ऑफ स्क्रीनराइटिंग [स्क्रीनप्ले: स्क्रीनराइटिंग की नींव]। डेल्टा बुक्स, 2005।

प्रेमचंद. *विविध प्रसंग (भाग 3: पत्र और संस्मरण)*. संपादित अमृत राय, हंस प्रकाशन, 1975।

रे, सत्यजीत. *आवर फिल्म्स, देयर फिल्म्स* , ओरिएंट लांगमैन, 1976।

रेणु, फणीश्वरनाथ. *तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम*. राजकमल प्रकाशन, 1956।

राय, अमृत. *कलम का सिपाही: प्रेमचंद की जीवनी*. हंस प्रकाशन, 1962।

शुक्ल, रामचंद्र. *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नागरी प्रचारिणी सभा, 1929।